



भारतीय भाषाओं पर अंग्रेजी के वर्चस्व का देश की आर्थिक और सामाजिक तरक्की में बाधक मान रहे हैं

प्रो. पिरीश्वर मिश्र

आधारित बंटवारे के पीछे यह भाव था कि सभी भाषाएं फले-फूले। पर स्थिति ने विकृत रूप लिया। अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ता गया और भारतीय भाषाएं दुर्बल होती गई। कुछ भाषा वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पूरा भारत एक भाषिक क्षेत्र है। ऐसा सोचने का आधार यह अद्भुत तथ्य है कि भारोपीय परिवार की कई भारतीय भाषाएं अपने परिवार की भाषाओं से तो भिन्न हैं पर यहीं की अन्य भाषा-परिवारों की कुछ भाषाओं के निकट हैं। उदाहरण के लिए 'हिंदी', 'तमिल' और 'मुंडा' भाषाओं की आंतरिक समानता विलक्षण है। यह बात कहीं गहरी सामाजिक-सांख्यिक एकात्मकता को ही द्योतित करती है। इन भाषाओं में ध्वनि, शब्द, वाक्य तथा लिपि इन सब दृष्टियों से समानता दिखती है। भारतीय आर्थिक भाषा और द्रविड़ परिवार की भाषाओं का वर्णमाला क्रम एक ही तरह का है। ऐसे ही हिंदी की वाक्य रचना में कर्ता-कर्म-क्रिया की व्यवस्था मिलती है जो आर्थिक,

अंग्रेजी ही सफलता की कुंजी नहीं

द्रविड़ ग्रन्थ, 16-2-15

द्रविड़ और मुंडा इन सभी भारतीय भाषाओं में दृष्टिगत होती है। हिंदी का शब्द-भंडार मुख्यतः भारतीय आर्थिक भाषा का शब्द भंडार है। इनमें तदभव और देशज दोनों ही तरह के शब्द शामिल हैं। हिंदी का शब्द जगत बहतेरी भाषाओं के शब्दों से समृद्ध है। इसमें जहां अरबी मूल का 'असर', 'किताब', और 'मालूम' है तो फारसी का 'चश्मा', 'औरत', और 'कालीन' भी है और तुर्की का 'चाकू', 'दरोगा' और 'चोगा' भी है। अंग्रेजी का स्टेशन, रेल, कोट, बल्कि आदि भी हिंदी में सम्प्रसिद्ध हैं। यह भी गौरतलब है कि भारतीय भाषाओं में कश्मीरी, सिंधी और उर्दू को छोड़, जो फारसी लिपि पर आधारित हैं, कुल नौ लिपियां प्रयोग में दिखती हैं। ये सब की सब मूलतः ब्राह्मी लिपि से उद्भूत हैं। इसका एक परिणाम यह है कि इनमें सम्प्रसिद्ध वर्णों में समानता है हिंदी, मराठी तथा संस्कृत की लिपि देवनागरी है। तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, गुजराती, पंजाबी और बंगाली की अपनी अलग-अलग लिपियां हैं। भाषाओं की निजता और वैयक्तिकता तो है पर इनमें समानता का भी व्यापक आधार है।

अनेक क्षेत्रों और मतावलंबी साधु-संतों ने हिंदी को दिल से अपनाया। इसकी व्यापकता का विस्तार नाथ पंथ के गोरखनाथ, महाराष्ट्र के नामदेव, बाहर से आए अमीर खुसरो और रसखान, गुजरात के देवराम, बंगाल में कुतबन जिन्होंने 'मृगावती' की रचना की, ने किया। ब्रजबुली में राधाकृष्ण का लीला-वर्णन, आसाम के शंकरदेव, पंजाब के गुरुनानक, और दिखिनी हिंदी की रचनाएं सब में दिखता है। आज अंग्रेजी घर कर गई है और नौकरशाही उसका धड़ल्ले से उपयोग कर रही है। अपने लिखित रूप में अंग्रेजी विशेष महत्वशाली है। हमारे अधिकांश दस्तावेजों के मूल रूप, यहां तक कि हमारे 'भारतीय संविधान' का प्रामाणिक रूप भी इसी भाषा में है। उसे ही 'मूल' माना गया है। पर आम जनता की बोलचाल की भाषा अंग्रेजी नहीं है इसमें कोई संदेह नहीं है। अंग्रेजी भाषा 90 प्रतिशत से ज्यादा भारतीय नहीं समझते। पर गभीर विचार-विमर्श के लिए अंग्रेजी को ही प्रमुखता मिली हुई है। यह विडंबना ही है कि उन अंग्रेजों को हिंदी में दक्षता हासिल करनी होती थी जो इंग्लैण्ड से भारत में नौकरी करने आते थे पर भारतीयों को भारत में शासकीय सेवा के लिए हिंदी न आए, कोई

बात नहीं अंग्रेजी की क्षमता जरूरी है। अंग्रेजी के पक्षकार मानते हैं कि अंग्रेजी आर्थिक विकास की वाहिका है और उससे भारतीय समाज का सशक्तीकरण होगा। पर कटु सत्य यही है कि अंग्रेजी की बाध्यता का मनोभाव न केवल देश के आर्थिक विकास को घटा रहा है, बल्कि गुणवत्ता वाली शिक्षा के लक्ष्य को पाने में भी बाधा पैदा कर रहा है।

भारत जैसे देश में जहां ज्यादातर लोग अंग्रेजी नहीं बोलते हैं, हर भारतीय को अंग्रेजी बोलना सिखाना या सभी को अंग्रेजी शिक्षा मुहूर्या करा पाना एक असंभव सा लक्ष्य है। दूसरी और उपेक्षा के कारण बहुसंख्यक भारतीय जो अपनी मातृभाषा का उपयोग करते हैं आधुनिक विमर्श और विचार से कटे होते हैं। भारतीय भाषाओं में बौद्धिक विमर्श का अभाव उनके विकास और उपयोग को कम कर देता है। उन भाषाओं में तकनीकी और स्तरीय शैक्षिक सामग्री का अभाव है। इसका परिणाम यह है कि भारतीय गैर अंग्रेजी-भाषा भाषियों की चीनी, जापानी, फ्रेंच या जर्मन लोगों की तुलना में ज्ञान तक पहुंच कम हो जाती है। मातृभाषा में शिक्षा न पाने के कारण कुशिक्षितों की जनसंख्या ही बढ़ी है। शैक्षिक उपलब्धि के मामले में ऐसे बच्चे बहुत पीछे होते हैं। विदेशी भाषा द्वारा सीखने की प्रगति को धीमा कर देता है। दिमाग को अनुवाद करने में कुछ समय लगता है। ज्ञानार्जन और एक दूसरी भाषा जैसे अंग्रेजी को सीखना तभी अच्छा हो सकता है, जब बच्चे के पास एक मूल भाषा की दक्षता मौजूद हो।

लाखों लोगों को एक नई भाषा द्वारा सफेदपोश नौकरी का मनोभाव सिखाना कुंठा और संघर्ष को ही जन्म देगा। थोड़े से ही काम ऐसे हैं जिनके लिए अंग्रेजी जरूरी होगी। यह भी समझना और महसूस करना जरूरी है कि आर्थिक और राजनीतिक विकास अंग्रेजी से नहीं, बल्कि स्थानीय भाषा के उपयोग के आधार पर ही हो सकेगा। ऐसा करने से वह मानसिक बाधा दूर हो सकेगी कि 'अंग्रेजी ही सफलता की कुंजी है'। हमें युवकों को ऐसे कौशलों और ज्ञान से सुसज्जित करना होगा जो देश के भीतर ही सफलता दिला सकें। यह उनकी अपनी भाषा द्वारा ही संभव हो सकता है।

(लेखक महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के कुलपति हैं)

दुनियाभर में कमज़ोर वर्ग की आस भारतीय दवाएं

ईंटिटू न्यूज़, 16.2.15

जनवरी 2014 से जनवरी 2015 तक के 13 महीनों में भारतीय अरबपतियों की कुल संपत्ति में 4,64,067 करोड़ रुपए की वृद्धि हुई। इसमें सबसे बढ़ा योगदान दवा उद्योगपतियों का रहा। इन सबका धन इसलिए बढ़ा, क्योंकि उनके शेयरों में विदेशी संस्थागत निवेशकों ने खूब निवेश किए। जानकारों ने इसे अनेक चुनौतियों के बावजूद भारतीय दवा उद्योग की संभावनाओं में निवेशकों के कायम भरोसे का प्रमाण माना। यानी दुनियाभर के बाजारों में सस्ती दवा उपलब्ध कराने वाली भारतीय दवा कंपनियों की साखें कायम हैं। ये दवाएं न सिर्फ अफ्रीका और अन्य विकासशील देशों में, बल्कि अमेरिका में भी कमज़ोर वर्ग के मरीजों की आस बनी हुई हैं। नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिग्लिट्ज ने पिछले हफ्ते लिखे लेख में यहाँ तक कहा कि अगर अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा को अपने बहुचर्चित हेल्थकेयर प्रोग्राम की सफलता सुनिश्चित करनी है, तो उन्हें भारतीय दवा उद्योग पर नकेल कसने की कोशिशों से बाज़ आना चाहिए। गैरतलब है कि पेटेंट संबंधी जिन भारतीय कानूनों की वजह से हमारी कंपनियां सस्ती दवाएं मुहैया कराने में कामयाब हुई हैं, उन्हें बदलवाने के लिए अमेरिकी कंपनियां अभियान चलाती रही हैं और ओबामा प्रशासन उनकी तरफ से भारत पर दबाव डाल रहा है। ये कानून 1970 के दशक में बने, जिनसे उन्नत और कारगर जेनरिक दवाओं के उत्पादन का रास्ता खुला। वैश्विक पेटेंट व्यवस्था विश्व व्यापार संगठन के तहत ट्रिप्स समझौते के 2005 में लागू होने से बदली। फिर भी कई मामलों में भारतीय कंपनियों के लिए जेनरिक दवाओं का उत्पादन मुमकिन बना रहा। ये औषधियां पेटेंट-अधिकार रखने वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों की दवाओं की तुलना में कितनी सस्ती होती हैं, इसकी एक मिसाल हेपेटाइटिस-सी की दवा सोवाल्डी है। अमेरिका में इसकी पेटेंटेड दवा के पूरे कोर्स पर 84,000 डॉलर खर्च होते हैं, जबकि भारतीय कंपनियां उसका जेनरिक संस्करण 1,000 डॉलर में उपलब्ध कराती हैं। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की पिछली अमेरिका यात्रा के दौरान दोनों देशों में भारत की पेटेंट नीति के पुनर्मूल्यांकन पर सहमति बनी थी। स्वाभाविक रूप से इससे दुनियाभर में चिंता पैदा हुई, लेकिन निवेशकों ने जैसा भरोसा भारतीय कंपनियों में दिखाया है, उससे उम्मीद बनती है कि भारतीय सफलता की यह शानदार कहानी आगे भी जारी रहेगी। एनडीए सरकार को इसे अवश्य सुनिश्चित करना चाहिए।

बिहार फिर भंवर में

दैनिक नवीकरण, 16-2-15



**नीतीश कुमार
और जीतन
राम माझी के
बीच चल रहे
टकराव से
बिहार में
संवैधानिक
संकट रवड़ा
होते देख रहे हैं**

ए.के. वर्मा

जीतन राम माझी को सदन में विश्वासमत हासिल करने का निर्देश राज्यपाल ने दिया है। अतीत के अनुभवों से हम अनुमान लगा सकते हैं कि उस दिन सदन के अंदर कैसा हंगामा होने वाला है। एक संवैधानिक संकट तो माझी सरकार द्वारा विश्वास मत पर मतदान के तरीके को लेकर है। क्या मुख्यमंत्री माझी की मांग के अनुसार गुप्त मतदान होगा? दूसरा संकट वित्तीय वर्ष के लिए तैयार बजट और राज्यपाल के अभिभाषण को लेकर है। माझी सरकार गिरने की स्थिति में राज्यपाल के अभिभाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव का क्या होगा? क्या नई सरकार उसमें संशोधन करेगी या पुनः एक संयुक्त अधिवेशन बुला कर दोबारा अभिभाषण होगा?

संसद के दोनों सदनों और राज्यों की विधानसभाओं में प्रक्रियाओं को लेकर लगभग एक समान व्यवस्था है। 'लोकसभा के प्रक्रिया तथा कार्य संचालन नियम 2014' के द्वारा ही संसद के दोनों सदनों में मत-विभाजन की व्यवस्था है। उसके अंतर्गत मत-विभाजन की जितनी भी विधियां बताई गई हैं उनमें कोई भी गुप्त मतदान की श्रेणी में नहीं आती, लेकिन नियम 367 (अ) के अंतर्गत पर्याप्त से या नियम 367 ब के अंतर्गत लॉबी-विभाजन से सदस्यों को लगभग गुप्त मतदान जैसा ही माहौल मिल जाता है, क्योंकि दोनों स्थितियों में वे अन्य उपस्थित विधायकों को बिना दिखाए ही अपना मत दे सकते हैं। यद्यपि पर्याप्तों पर

उनको हस्ताक्षर करने पड़ते हैं और अपना नंबर अंकित करना पड़ता है, जिसे सदन का अध्यक्ष सार्वजनिक नहीं करता। उसी तर्ज पर 'बिहार विधानसभा की प्रक्रिया तथा नियमावली 2012' में भी व्यवस्थाएं हैं। तो नियमतः माझी की गुप्त मतदान की मांग तो मानना संभव नहीं। इसके अलावा 1985 में परित संविधान के 52वें संशोधन अर्थात दलबदल निरोधक कानून में यह व्यवस्था है कि सदन में प्रत्येक विधायक अपने 'दलीय-संचेतक' के निर्देश के अनुसार ही बोट करेगा। ऐसा न करने पर उसकी सदन की सदस्यता समाप्त हो जाएगी। अब यदि गुप्त मतदान होगा तो पता कैसे चलेगा कि सदस्यों ने अपने-अपने दलीय संचेतकों के निर्देशों के अनुरूप मतदान किया है या नहीं? अतः संविधान और संसदीय प्रक्रिया नियमों दोनों के अनुसार सदन के अंदर गुप्त मतदान हो ही नहीं सकता।

दूसरी संवैधानिक समस्या राज्यपाल के अभिभाषण को लेकर होगी। राज्यपाल का अभिभाषण तो राज्य सरकार की नीतियों का एक स्वरूप प्रस्तुत करता है जिसे स्वयं सरकार ही तैयार करती है। यदि माझी की विश्वास मत नहीं मिल पाता, जिसकी संभावना ज्यादा है, तो उस अभिभाषण का क्या होगा? नई नीतीश सरकार तो उसे लागू करने से रही। तो क्या राज्यपाल के अभिभाषण को संशोधित कर उस पर धन्यवाद प्रस्ताव पारित किया जाएगा? क्या इससे हम बिहार विधानसभा के हंगामेदार बजट सत्र का पूर्वानुमान नहीं लगा सकते? विगत अनेक वर्षों से कई गर्ज्यों में राज्यपाल के अभिभाषण के अवसरों पर विधानसभाओं और राज्यपालों के पद की गरिमा तार-तार हुई हैं। नीतीश ने अपने स्वार्थ हेतु इस संभावना को बिहार में पुनः हवा दी है।

2005 में लालू यादव की त्रासदी से बिहार को मुक्त कर नीतीश ने बिहार में विकास और सुशासन की राजनीति शुरू की, लेकिन अचानक उन्होंने बिहार को भंवर में फेंसा दिया। उन्होंने एक के बाद एक कई गलतियों की। लोकसभा 2014 के चुनावों के ठीक पहले उन्होंने भाजपा से रिश्ते तोड़कर बिहार में एक अच्छी सरकार को अचानक संकट में डाल सभी को हतप्रभ कर दिया, फिर लोकसभा चुनावों में करारी हार के बाद अप्रत्याशित रूप से मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र देकर एक बिलकुल अनजाने वेहरे जीतन राम माझी को अपने 'रबर-स्टैम्प' की तरह बिहार की जनता पर थोप दिया और अब उसी 'रबर-स्टैम्प' को अधिनायक की तर्ज पर हटा कर फिर स्वयं मुख्यमंत्री बनने की

कोशिश की है। नीतीश की बदहवासी कुछ समझ में नहीं आती। वह कौन सी राजनीति कर रहे हैं और क्यों? यह ठीक है कि मुख्यमंत्री माझी अल्पमत में हैं, लेकिन संविधान अल्पमत या बहुमत के मुख्यमंत्री में कोई अंतर नहीं करता। और रही बात सदन में शक्ति-परीक्षण के लिए राज्यपाल द्वारा माझी को कुछ समय देने की तो राज्यपाल एक संवैधानिक पद है जिसे राष्ट्रपति भी आदेशित नहीं कर सकते। जितनी शंका माझी द्वारा दलबदल कराने की है, उतनी ही शंका इसकी भी हो सकती है कि नीतीश ने अपने प्रभाव और पैसे का प्रयोग कर 130 विधायकों को अपने पास बंधक बना रखा हो।

नीतीश ने अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा को ठीक से परिभाषित नहीं किया। वह तो 2005 से ही बिहार के मुख्यमंत्री बने हुए थे। 2014 में शायद उनकी अभिलाषा प्रधानमंत्री बनने की हुई। यहाँ से समस्या शुरू हो गई। इसके लिए उन्होंने अपनी मेहनत से कमाई छवि को खो दिया तथा उस लालू यादव का साथ ले लिया जिसे न्यायालय और लोग आज एक अपराधी के रूप में जानते हैं। इतना ही नहीं, बिहार में नीतीश ने सोशल इंजीनियरिंग के साथ-साथ एक पोलिटिकल इंजीनियरिंग भी की थी। भाजपा के साथ मिलकर अगड़ी-पिछड़ी और दलित जातियों के अलावा मुस्लिम समुदाय को एकजुट करने का उनका सराहनीय प्रयास था जो भाजपा-जद (यू) को उस इद्रधनुषीय सामाजिक गठबंधन की ओर ले जा रहा था जो उनके राजनीतिक गठबंधन को मजबूत बना सकता था, लेकिन भाजपा से रिश्ते तोड़ने की अपनी एक गलती से उन्होंने न केवल अगड़ी जातियों का समर्थन खो दिया, बरन माझी प्रकरण से दलितों और महादलितों का भी समर्थन खो सकते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने महादलितों को प्लेट में रख कर भाजपा को परोस दिया है। वर्तमान परिस्थितियों में इसका लाभ लेने से भाजपा को कोई रोक नहीं सकता। कुछ महीने बाद बिहार में विधानसभा चुनाव होने वाले हैं। ऐसे में नीतीश जैसे परिषक्त राजनीतिज्ञ को किसी विवाद और संकट से बचना चाहिए था। हो सकता है आगामी 20 तारीख को शक्ति परीक्षण में जीतकर नीतीश पुनः मुख्यमंत्री बन जाएं, पर क्या वह जनता के दिलों को भी जीत सकेंगे? क्या वह दलितों और महादलितों के दिलों में फिर वैरी ही पैठ बना सकेंगे? और क्या इसके लिए वह लालू यादव पर भरोसा कर सकते हैं? वही लालू जिनकी सत्ता छीन कर वह लगभग दस वर्षों तक मुख्यमंत्री रहे?

(लेखक वरिष्ठ स्तंभकार हैं)